सहजानंद शास्त्रमाला

धर्म

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

सर्वाधिकार सुरक्षित

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

[३२]

धर्म

रचयिता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

वर्णी मनोहर जी "सहजानन्द" महाराज

—<:o:>—

प्रकाशक—

मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला

२०१ पुलिस स्ट्रीट, सदर मेरठ।

जून १९५८ (उत्तर प्रदेश) मूल्य =)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्म

धर्म का स्वरूप

धर्म नाम स्वभावका है, प्रत्येक वस्तु जब अपने धर्मका असली रूप रखती है तब तो वह सम शान्त सुस्थित रहती है और जब किसी अन्य वस्तुका मेल पाकर अपने धर्म (स्वभाव) के विपरीत अर्थात् विकृत रूप में परिणमता है तब वह विशम अशान्त दुःस्थित हो जाती है। बस यही बात आत्मामें पाई जाती है।

सबसे पहिले तो आत्माके (अपने) विषयमें यह निर्णय करना आवश्यक है कि "मैं हूँ"। इसके लिये अनुभव अधिक प्रामाणिक है। जिस पदार्थ में सुख, दुख, बोधकी कल्पना पाई जाती है वह वास्तविक कोई पदार्थ है अन्यथा सुख दुःख कौन करता? यदि यह कहा जाय कि सुख दुःख आदि भ्रममात्र हैं तो भ्रम ही सही, उस भ्रमको कौन करता? आधारभूत एक पदार्थ के माने बिना भ्रम, सुख, दुःख, बोध आदिकी सिद्धी नहीं होती। इससे यह सिद्ध है कि जिसमें सुख, दुःख, भ्रम, बोध आदिका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परिणमन होरहा है वह मैं आत्मा हूँ। अनुभव द्वारा आत्मा की (अपनी) सत्ता स्वीकृत होनेपर अब यह विचार कीजिये कि जो भी वस्तु होती है वह अपना स्वभाव अवश्य रखती है अन्यथा स्वभाव बिना पदार्थ क्या ? मैं भी वस्तुभूत हूँ, तब मेरा भी स्वभाव है। स्वभाव वह होता है जो अनादि अनन्त अपने आप सिद्ध है। आत्मा में ऐसा तत्त्व चैतन्य पाया जाता है जिसकी पहिचान ज्ञानभाव है, जिसका सीधा सरल चिन्ह ज्ञानस्वभाव है ऐसा प्रतीत हुआ। जहां ज्ञानस्वभाव है वहीं अनुभव हैं, जिसके अनुभव है, चाहे स्वाभाविक परिणमन हो या वैभाविक, उसके वेदन होता है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा धर्म (स्वभाव) ज्ञानभाव है अर्थात् मात्र जानना देखना आत्मा का धर्म है। इसके अतिरिक्त राग करना, द्वेष करना, मोह करना, विषयों में प्रवृत्ति करना, संकल्प-विकल्प करना आदि क्रियायें हैं वे अधर्म हैं क्योंकि यह स्वरूपमय या अनादि अनन्त एकस्वभाव नहीं हैं।

वास्तवमें आत्माके धर्म (स्वभाव) पर दृष्टि करनेको, स्वभाव के उपयोगकी निश्चलताको धर्म करना कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

: दो :

शान्ति अशान्ति अर्थात् सुख और दुःख

जगत्के प्रत्येक जीव शांति अर्थात् सुख चाहते हैं, और यह बात भली भी है क्योंकि शांति सुख स्वभाव है परन्तु शांति सुखके यथार्थ स्वरूपको न जानने के कारण संसारी प्राणियोंने जिस किसी भी रागके विषयभूत पदार्थ आश्रयमात्र करके उत्पन्न हुई रागादि वृत्तियोंमें शांति सुख मान रखा है अतः जो भी प्रयत्न करते हैं, करते हैं सुख शांतिके लिये, परन्तु प्रयत्नका फल अशांति–दुःख ही होता है।

इस गड़बड़ीका हल, धर्म-अधर्मका स्वरूप पहिचानकर धर्मका उपादान और अधर्मका परिहार करनामात्र है।

धर्मसे शांति-सुख होता है तथा अधर्मसे अशांति-दुःख होता है अथवा धर्म स्वयं सुख-शांतिस्वरूप है और अधर्म स्वयं अशांति-दुःखस्वरूप है।

जहां मात्र जानने देखनेकी स्थिति है एवं लेशमात्र न राग है न द्वेष है न इष्ट-अनिष्ट संकल्प-विकल्प है। वहां आकुलताका क्या काम है, जहां आकुलता नहीं वहां सुख ही सुख है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जहां मात्र जानने देखनेकी स्थिति नहीं है किन्तु जानना देखना होनेपर भी जानना देखना गौण करके राग द्वेष विषयक प्रवृत्तियोंको अपनाया गया है। विषय-कषायोंका आदर होगयाहै उस भावमें आकुलताका ही भाव है, जहां आकुलता है वहां दुःख ही दुःख है।

इसप्रकार यह प्रसिद्ध हुआ कि धर्म तो सुखशांति का मूल है और अधर्म दुःख अशांतिका मूल है।

: तीन :

दुःखवृद्धिका मूल भ्रम

आत्माके उपयोगका लक्ष्य परपदार्थ होना और इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति होना, इष्ट-अनिष्ट कल्पना होना, क्रोधादि कषाय करना आदि दुःख है, फिर भी विषय-कषायोंके इष्टस्मरणकी आकुलताका तो कोई विचार न होना प्रत्युत उनमें सुखबुद्धिका करना यह भ्रम उन दुखों की वृद्धिका मूल है।

दुःखको जहां सुख समझ लिया जाय तो उस दुःख को दूर करनेका यथार्थ उपाय कैसे होसकता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बस यही भ्रम जिसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन झूठा विश्वास है सर्वदुखोंका मूल है। भ्रम ही महापाप है। इस महापाप के दूर होते ही अन्य पाप सब शिथिल हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप अन्तमें यह आत्मा अत्यन्त निष्पाप होजाता है।

दुःख दूर करनेका उपाय भ्रम दूर करना ही है। जैसे किसी हरिणको श्वेत धूलीवाली विशाल शुष्क नदीमें रेतके प्रति जलका भ्रम होजाय तो वह प्यास बुझानेके लिये आगे दौड़ लगाता है। वहां यद्यपि जल नहीं मिलता किन्तु आगेकी धूलिमें भ्रम होते रहनेसे वह दौड़ लगाता रहता है और जीवन समाप्त कर देता है। वैसे ही मोही प्राणी इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख की बुद्धि करके विषयभूत पदार्थोंके संग्रहमें यत्न करता है, कदाचित् कुछ संयोग होजाय तो शांति तो प्राप्त होती नहीं, संतोष होता नहीं सो और और संयोगके लिये यत्न करता है, जिस परिश्रम से संक्लिष्ट होकर जीवन समाप्त कर देता है और आगे के भावमें इससे भी निकृष्ट स्थिति पाता है। भ्रम ही महापाप है, सर्वदुःखका मूल है। भ्रमको सम्यग्ज्ञानके उपाय से दूर करो।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

: चार :

भ्रम दूर होने का उपाय–भेदविज्ञान

किसी पदार्थका अन्य पदार्थके साथ सम्बन्ध मानना भ्रम है, जिससे प्रकृत में यह बात आयात होती है कि आत्माका (अपना) कोई अन्य पदार्थ है अथवा अन्य किसीका मैं हूं एवं अन्य की परिणतिसे मैं परिणम जाता हूं या मेरी परिणतिसे अन्य परिणम जाता है, मैं अन्य को सुखी दुःखी करता हूं व अन्यको मैं करता हूं आदि सम्बन्धकी बुद्धि भ्रम है जो समस्त क्लेशोंका मूल है। इसके दूर करने का उपाय भेदविज्ञान है अर्थात् प्रत्येक वस्तुका जो स्वलक्षण है उससे ही तन्मय अन्यसे पृथक जैसा कि वस्तुस्वरूप है जानना है।

पदार्थ, पदार्थ तब ही रहता है जब कि वह अन्य सर्वके स्वरूप, परिणमनसे पृथक् हो अन्यथा पदार्थ हो ही नहीं सकता। इसप्रकार जो अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं एवं आकाश आदि द्रव्य हैं वे सब अपने से अतिरिक्त सबसे अत्यन्त पृथक् हैं। यह ही वस्तु स्थिति है।

इस यथोक्त विधिसे अपने आपको अन्य सब पदार्थों से पृथक् अपनी अभिन्न शक्तियोंसे ही तन्मय पा लेना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भेदविज्ञान है। इसके फलस्वरूप अपने आपके प्रति ज्ञानी को यह विश्वास बना रहता है कि मैं सर्वसे न्यारा एक चेतन पदार्थ हूं, मैं अपने ही ज्ञान सुख आदि शक्तियों में परिणमता रहता हूं, मेरा ज्ञान व सुख अन्य किसी पदार्थ से नहीं आता, मैं ही अकेला संसार में भ्रमण करता हूं और मैं ही अकेला मुक्त होने योग्य हूं। अन्य पदार्थों का मुझमें अत्यन्ताभाव है। इसतरह सर्वसे पृथक् अपने आपका ज्ञान होना भ्रम दूर होनेका उपाय है।

: पांच :

निज की असलियत पाने के लिये निज में भेदविज्ञान

पूर्व कहे हुये परपदार्थों के प्रति जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह निजकी असलियत प्राप्त करानेका उपायभूत निजमें भेदविज्ञान करनेका पात्र ही नहीं है। अतः स्थूल दृष्टिसे सर्व परपदार्थों से भिन्न निज आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है, ऐसा निर्णय कर ही लेना चाहिये, तदनन्तर निज एक आत्मामें भी ध्रुव क्या है और अध्रुव क्या है इस कसौटीसे भेदविज्ञानका प्रयोग करे।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्मा अनन्त शक्तिमय है। उन शक्तियोंमें प्रधान दो शक्तियोंके विषयमें विवरण करते हैं। वे दो शक्ति हैं दर्शन व चारित्र। ये गुण जब कर्म नोकर्म को निमित्त-मात्र करके परिणमते हैं तो विपरीत परिणमते हैं। दर्शन तो विपरीत बिश्वासमें परिणमता है और चारित्र काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावोंसे परिणमता है। किन्तु जब दर्शन, चारित्रका सहजस्वभावरूप (अनैमित्तिक) परिणमन होता है तब दर्शन स्वतन्त्र स्वरूप के अवलोकन रूप व चारित्र विशुद्ध चैतन्यस्वभावमें स्थितिरूप परिण-मता है। ये दर्शन-चारित्र चाहे विभावरूप परिणमे चाहे स्वभावरूप परिणमे, जो भी परिणमन है वह सब अध्रुव है और दर्शन-चारित्र आदि सर्वशक्तियोंमें तन्मय चैतन्य-स्वभावी निज आत्मा ध्रुव है। इस तरह त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव ध्रुव है और पर्यायें अध्रुव हैं। मैं चैतन्य स्वभावी हूं, इस ध्रुव तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कल्पनायें राग द्वेष आदि सब मैं नहीं हूं क्योंकि मैं ध्रुव हूं ये सब अध्रुव हैं। इसप्रकार आत्मामें उत्पन्न होने वाले राग द्वेष संकल्प-विकल्प आदि सब परिणमनोंसे भिन्न ध्रुव चैतन्य स्वभाव पर लक्ष्य करना व इस ही अभेदस्वभावमें परिणत होना, भेदविज्ञान व भेदविज्ञानका फल है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

: छः :

भेदविज्ञानी (धर्मी) की प्रवृत्ति

जिसने निज चैतन्यस्वभावके उपयोगद्वार से दर्शन किये हैं ऐसा पुरुष पूर्वसंचित कर्मके विपाकको निमित्त करके कभी प्रवृत्तिमें आता है तब उसकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिकी अत्यन्त उपेक्षा करके नहीं होती क्योंकि धर्मी का मुख्य लक्ष्य निवृत्तिमय चैतन्यस्वभाव है। प्रवृत्तियां मन वचन काय के द्वारा होती हैं सो ज्ञानी मन वचन काय की ऐसी प्रवृत्तियां करता है जिसमें इन्द्रिय व मन निरंकुश नहीं होते एवं अन्यके प्राणोंको बाधा नहीं पहुंचती, इसको इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम कहते हैं। इस ही उद्देश्यकी पूर्ति धर्मीकी चर्यामें है जैसे-मद्य, मांस, मधु, अभक्ष्यफल आदि न खाना, रात्रिको भोजन न करना, बिना छना जल उपयोगमें न लेना, अनियमित भोजन न करना, वीतराग पवित्र परमात्माकी उपासना करना, गुरुसमनाममें अधिक समय लगाना ज्ञानवृद्धिके उपाय स्वाध्याय अध्ययन आदि करते रहना, प्राप्त तन मन धन वचनको परोपकारमें लगाना, गुरुवोंकी सेवा करना, इच्छाओंको रोकना, देखकर चलना, देखकर उठाना, धरना, देखकर मलक्षेप करना, किसीका चित्त या प्राण नहीं दुखाना, अहित

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अप्रिय कटु वचन न बोलना, चोरी न करना, कुशीलका त्याग करना, परिग्रहकी तृष्णा न करना आदि। यही सब व्यवहारधर्म हैं, तीर्थ हैं।

: सात :

धर्म की विशेषता

धर्म—सहजस्वभाव को कहते हैं। इसकी पहिचान इसको अनेक दृष्टियोंसे परीक्षित करनेपर यथार्थस्वभाव की प्रतीति होपाती है। इस उपायको स्याद्वाद कहते हैं।

धर्म—वैज्ञानिक खोज है। सत्य विज्ञानकी कसौटी से विरुद्ध भाव धर्म नहीं होसकता।

धर्म—का आचार व्यवहार करते हुये कितनी श्रेणियों से गुजरा जाता है उनमेंसे किसी भी श्रेणी पर ठहरे हुये धर्मात्माके ऐसा योग्य आचार-व्यवहार होता है जिसमें ऐसी न्यूनाधिकता नहीं रहती कि कोई आचार व्यवहार उस श्रेणी से अत्यन्त न्यून हो वह कोई अत्यन्त अधिक हो।

धर्म—स्वतन्त्रता का पोषण करता है। स्वातन्त्र्य धर्म है स्वच्छन्दता धर्म नहीं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्म—के स्वरूपके उपयोगसे सहज ही सर्व प्राणियोंमें परम-
मैत्रीभाव समानताका उपयोग होजाता है ।
धर्म—अर्थात् आत्माके सहज स्वभावके अवलोकनके अनंतर
विरति अविरतिका विवेक त्वरित होजाता है ।
धर्म—भावके ज्ञाता सर्वएकान्त दर्शनोंकी ग्लानि दूर करलेते
हैं और उनके अपूर्ण अंशोंकी पूर्ति करलेते हैं ।

———

: आठ :

धर्मके पहिचाननेकी शैली स्वाश्रित दृष्टि

अन्य पदार्थकी किसी भी प्रकार जहां अपेक्षा नहीं है ऐसी केवल एक ही वस्तुके आश्रयसे बनी हुई दृष्टि धर्मके मर्मको पालेती है, इस दृष्टिको स्वाश्रित दृष्टि कहते हैं । आत्माके साथ जिसपर द्रव्यका संयोग है ऐसे कर्म और शरीर की अपेक्षा या सम्बन्ध न लेकर तथा परद्रव्यके संयोगको निमित्तरूप आश्रयमात्र करके होनेवाले योग उपयोगको न देखकर मात्र आत्माके आश्रयसे स्थायी त्रैकालिक भावको देखने से धर्मका मर्म द्रष्टाके अनुभूत होता है ।

कर्म और शरीरका आत्ममें अत्यन्ताभाव है अतएव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्मासे कर्म शरीर भिन्न है तब कर्म और शरीरका किसी भी प्रकारका कार्य आत्मधर्म कैसे होसकता है।

कर्म और शरीरको निमित्त पाकर जो आत्मामें भाव बनते हैं उनको परका निमित्तारूप आश्रय करना आगया अतः क्रोध, मान, माया, लोभ, संकल्प-विकल्प आदि भी आत्मधर्म नहीं हैं। इसीप्रकार आदर-सत्कार, विनय-पूजन, भक्तिचर्चा आदि अनुरागस्वरूप एवं पराश्रित होने के कारण आत्मधर्म नहीं हैं।

अपूर्णज्ञान पूर्णताके प्रतिबंधकको निमित्तमात्र पाकर होनेके कारण आत्मधर्म नहीं हैं। पूर्णज्ञान जाननरूप कार्यको निरन्तर करता रहता है। वह जाननरूप कार्य यद्यपि प्रति समयका समान है तथापि नव कार्य है क्योंकि वह समयको आश्रय करके हुआ है. अतः पूर्ण ज्ञान भी आत्मधर्म नहीं है किन्तु शुद्धपर्याय है और यह शुद्धपर्याय ही अनन्त सुखस्वरूप है। इसकी प्राप्तिका उपाय आत्मधर्मका लक्ष्य-आश्रय-उपादान है।

आत्मधर्म चैतन्य अथवा ज्ञानभावकी अशुद्ध या शुद्ध समस्त परिणतियोंमें जो एक तत्त्व है जिसपर परिणतियां होती हैं वह मात्र स्वके आश्रित होने से आत्मधर्मका आत्मधर्म सदा प्रकाशमान है। जो अनुभव करले वह धर्मात्मा है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

: नौ :

धर्म और मत

धर्म तो वस्तुके स्वभावको कहते हैं और मत धर्मको किसी ही दृष्टिसे किसी रूप निर्णय-सा करके उसकी प्राप्ति के लिये आचार-विचार व्यवहारकी मान्यताको कहते हैं। इसतरह मत अनेक होजाते हैं । परन्तु धर्म तो वही एक है। जो इस एकको पहिचान जाते हैं वे समस्त विवाद विपदासे दूर होकर सत्यपथिक हो जाते हैं।

धर्मके मर्मको जाननेके लिये अपेक्षावादका व्यवहार आवश्यक हैं एव धर्मके मर्मका अनुभव न करनेकेलिये अपेक्षावादसे परे तथा सापेक्ष निरपेक्षके विकल्पसे परे मात्र अनाकुलस्वरूप ज्ञानस्वभावका वेदन आवश्यक है।

धर्मका अवलोकन करनेवालोंकी मान्यता धर्मविषयक मत है और उनके तन मन वचन धनके उपयोग करनेकी रीति व्यवहारधर्म है । गृहस्थोंकी अपेक्षा व्यवहारधर्म की वाह्य शक्ल किस प्रकार होजाती हैं इसकी कुछ मुख्य भागोंमें व्याख्या इस प्रकार है:—

[१] वस्तुस्वरूप सम्बन्धी भ्रमका विनाश, वस्तु-स्वातन्त्र्यका अवलोकन। [२] हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापोंसे विराग। [३] वीतराग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विज्ञानमय परमात्माकी उपासना। [४] स्वाध्याय उपदेश चर्चा आदि द्वारा सम्यग्ज्ञानोपासनाकी लगन। [५] मद्य, मांस, मधु, उदम्बर, रात्रिभोजन आदि अभक्ष्यों का त्याग। [६] मुमुक्षुओंकी विविध वैयावृत्यमें तन मन वचन धन का उपयोग। [७] समस्त प्रवृत्तियोंमें हिंसा न होने देने की सावधानी।

———

: दस :

आधुनिक साम्प्रदायोंका शब्दगर्भित ध्येय

धर्म एक वस्तुस्वभाव है जो स्वयं सुखस्वरूप है एवं हिंसादि पापोंसे दूर है। यह ही तत्त्व सर्व सम्प्रदायोंके नामके शब्दोंसे ध्वनित है। यथा—

जैन—मिथ्यात्व राग द्वेष आदि शत्रुओंको जीतने वाला जिन कहलाता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञानस्वभाव से प्रकट हुआ परमात्मा जिन है और जिन भगवानके द्वारा आदिष्ठ उपदेशों को मानने वाला जैन है।

शैव—शिव परमसुख या परमकल्याण को कहते हैं वह परमसुख आत्माकी विशुद्ध अवस्थास्वरूप हैं उसकी उपासना करने वाला शैव है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ईश्वरवादी– जो अपने अनन्तज्ञान आदि ऐश्वर्यसे सम्पन्न है उसे ईश्वर कहते हैं उसकी उपासना स्तुति करने वाला ईश्वरवादी है।

ब्रह्मोपासक–जो अपने गुणोंसे वर्द्धनशील है एवं अपनी सृष्टिमें स्वतंत्र है उसे ब्रह्म (आत्मा) कहते हैं उसकी उपासना करने वाले ब्रह्मोपासक हैं।

रामभक्त–योगिजन जिसमें रमण करे वह राम (आत्मा) है उसके सेवक को रामभक्त कहते हैं।

वैष्णव–जो सर्वत्र व्यापे सो विष्णु (ज्ञान) है उसकी उपासना करने वाला वैष्णव है।

बौद्ध–जो सर्व चराचर जगत् को जाने सो बुद्धि (शुद्ध ज्ञान) है उसके सेवक को बौद्ध कहते हैं।

हरिभक्त– जो पापोंको हरे सो हरि (निर्मलज्ञान) है। हरिके सेवने वाले हरिभक्त हैं।

हिन्दू-- जो हि-हिंसासे दू-दूर हों सो हिन्दू हैं, वस्तुतः हिंसा राग द्वेषको ही कहते हैं। उससे दूर ज्ञान स्वभाव है उसके मानने वाले हिन्दू हैं।

पारसी--पारस (पार्श्व) समीपको कहते हैं, समीपमें रहने वाले भगवान आत्माको मानने वाले पारसी हैं।

सिक्ख– (शिष्य) ज्ञानस्वभावरूप धर्मके अनुशासन उपदेशमें रहने वाले सिक्ख हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुसलमान--मुसले ईमान, ईमान (सत्य ज्ञानस्वभाव) पर दृढ़ रहने वाले मुसलमान हैं।

नैयायिक--न्याय (यथार्थस्वभाव) को मानने वाले नैयायिक हैं।

वैशेषिक--विशेष (असाधारण गुण ज्ञानस्वभाव) के मानने वाले वैशेषिक हैं।

मीमांसक-- निज स्वभावके मनन, विवेचन करने वाले मीमांसक हैं।

यौग--योग (समाधि-ज्ञानस्वभाव) की उपासना करने वाले यौग कहलाते हैं।

ईशाई--ईश स्वामी को कहते हैं, वह अनुभूत निज आत्मा भगवान है उसके भावकी उपासना करने वाले ईसाई कहलाते हैं।

राधावल्लभ-- राध् से सिद्धौ, राधा आत्मसिद्धिका नाम है और आत्मसिद्धिके रुचिवान् अथवा स्वामीको राधावल्लभ कहते हैं।

आर्य--जो विशुद्ध और सारभूत तत्त्वको परिणवे वह आर्य हैं। वह है अपनेमें चैतन्यस्वभाव उसकी उपासना करने वाले आर्य कहलाते हैं।

सनातनी--सना--तन अर्थात् सदासे अनादिसे और अनन्तकाल तक रहने वाले तत्त्वको सनातन कहते हैं,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह है अपनेमें चैतन्यस्वभाव उसकी उपासना करने वाले सनातनी कहलाते हैं।

इत्यादि सम्प्रदायोंके नाम ज्ञानस्वभाव—आत्मधर्म को सूचित करते हैं।

आत्मधर्मकी सिद्धिके लिये ऐसा योग करना आवश्यक है कि किसी भी पर्यायदशा में आत्मबुद्धि न करके अपने आपको "मैं ज्ञानमात्र हूँ" ऐसा अनुभव करना। जिस कुलमें, जिस मजहबमें, जिस जातिमें अपनेको मानता आया हो उस जाति, कुल, मजहब आदिका निषेध करके कि मैं न अमुक जातिवाला हूँ, न मनुष्य हूं, न धनी हूँ, न गरीब हूं, न योगी हूं, न भोगी हूं आदि सर्व निषेध करके मैं एक ज्ञानमात्र हूं, इस अन्तरनुप्रेक्षासे सर्व विकल्पों को दूर करना फिर जो अनाकुल प्रतिभासमय अनुभवन है वही धर्मका चमत्कार है।

— — —

: ग्यारह :

धर्मी

धर्म—(स्वभाव) को धर्मी कहते हैं। स्वभाव निराश्रय (पदार्थके बिना) नहीं है अतः आत्मधर्म चैतन्य चेतनआत्मा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चेतनआत्माके आश्रय है अर्थात् स्वभावका स्वभाववानसे तादात्म्य है । यह चेतन अनन्त शक्त्यात्मक है । इस चेतनमें जानना देखना अनाकुल रहना आदि अनन्तधर्म (गुणशक्ति) हैं । अमूर्त रहना, सूक्ष्म होना, हानिवृद्धिरूप रहना, परिणमना आदि अनन्तधर्म हैं । यद्यपि चेतन जो है सो है तथापि जब उसको पहिचाननेके लिये विशेषका उपाय ग्रहण करते हैं तब इन शक्तियोंको जानकर सर्व शक्तियोंसे अभेदस्वभावरूप यह चेतन प्रतिभात होता है ।

धर्मी और धर्मका तादात्म्य है अतः धर्मीके अनुभव धर्मका प्रतिभास एवं धर्मके अनुभवसे धर्मीका ज्ञान होजाता है ।

धर्मी एक है, उसका परिज्ञान उसकी शक्तियोंसे होता है । इसके जितने परिणमन समझमें आते हैं उतनी ही शक्तियोंका मीमांसक पुरुष ज्ञान करता है, वह इतनी शक्तियोंको देखता है कि ऐसा कहनेमें आने लगे कि इन सब शक्तियोंका पिण्ड आत्मा है । कल्पना की जावे कि एक एक करके सारी शक्तियां अलग करदी जावें तो चेतनवस्तु कुछ भी न रहे । यथार्थतया तो चेतनवस्तु एक है, शक्तियां उसकी पहिचान हैं । द्रव्य है और उसका पर्याय । सद्भूत वस्तु धर्मी है । धर्म उसका स्वभाव है ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

आत्माका स्वभाव चैतन्य है। चैतन्यमें आत्माके अनेक स्वभाव गर्भित हैं।

———

: बारह :

स्वातन्त्र्य

जगत्में पदार्थ उतने हैं जितने कि वे पदार्थ एक दूसरेमें नहीं मिल सकते सबसे भिन्न रहकर अपने स्वरूपमें एक अद्वैत रहते हैं। वे पदार्थ इसप्रकार हैं—अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक अनिमित्तभूत धर्मद्रव्य, एक स्थितिनिमित्तभूत अधर्मद्रव्य, एक आकाश, अनन्त-समयरूप पर्यायके कारणभूत असंख्यात कालद्रव्य। ये सब अनादि, अनन्त, स्वतःसिद्ध, अखंड और परिणमन-शील हैं। किसी एकका परिणमन किन्हीं भी दूसरोंमें नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने पिण्डमें ही किया करता है दूसरे में नहीं। इसतरह प्रत्येक द्रव्योंकी स्वतन्त्रता है, कोई किसीका कुछ परिणमन नहीं करता, सुधार बिगाड़ नहीं करता। हां इतनी बात अवश्य है कि वस्तुके कितने नही परिणमन अन्य द्रव्यको सन्मुख, निमित्त, आश्रयमात्र पाकर अपना विकार कर पाते हैं। एतावता कोई किसीके आश्रय नहीं होजाता। निमित्त पाकर भी वस्तु परिणमनी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है अपनेमें, अपने धर्म द्वारा, अपनेलिये, अपने आप । आत्माकी भी ऐसी स्वतन्त्रता है । इस स्वतन्त्रताके पहिचान लेनेपर स्वभावनिरीक्षकके परका आश्रय लक्ष्य नहीं रहता हैं । इस परद्रव्यविषयिनि क्तावृत्तिसे वह ज्ञाता द्रष्टा स्वभावरूप अपने में झुकता है लीन होता है । अतः मोह राग द्वेषसे पृथक् होकर यह चेतन निर्मल विज्ञानघन ध्रुव चैतन्यस्वभावको कारणरूपसे उपादन करके निर्मल ज्ञानोपयोगी होकर स्वयं परिण जाता है । इसतरह आत्मा स्वतन्त्र है, इसका स्वभाव स्वतन्त्र है, किसी परद्रव्यके आधीन नहीं है । इसतरह धर्मोंकी स्वतन्त्रता पहिचानकर स्वतन्त्र स्वभावका लक्ष्य उपादान करना शान्ति का मार्ग है ।

: तेरह :

भेदविज्ञान की क्रमशैली और धर्म (अभेद-स्वभाव) में पहुँच

१—मैं चेतन सर्व धन वैभव आदि अचेतन पदार्थोंसे न्यारा हूं क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक हूं ये सर्व जड़ हैं ।

२—मैं चेतन दिखनेवाले इन सर्वजीवोंसे जो मूर्तसाकार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

बन रहे हैं न्यारा हूं, क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक अमूर्त निराकार हूँ, ये सर्व मूर्तसाकार भिन्न परिणमनवाले हैं।

३—मैं चेतन इन जीवमें रहने वाले चैतन्यभावके आधारभूत चेतनोंसे भी भिन्न हूं क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक स्वयं हूं, ये सर्व प्रतिभासमय होकर भी प्रत्येक भिन्न परिणमन वाले हैं।

४—मैं चेतन इस देहसेभी न्याराहूं क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक हूं, यह देह जड़ अनेक पुद्गलाणुओंका पुंज है।

५—मैं चेतन कषायादिको निमित्त पाकर कर्मत्वरूप होनेवाले कार्माणशरीरसे न्यारा हूं क्योंकि मैं प्रतिभासमय एक हूं, ये कर्म जड़ और भिन्न परिणमनवाले हैं।

६—मैं चेतन कर्मोंके उदयको निमित्तमात्र पाकर होने वाले विकारभावोंसे न्यारा हूँ, क्योंकि मैं प्रतिभासमय ध्रुव एकस्वरूप व स्वाश्रित हूँ, ये विभाव जड़, अध्रुव और विषय एवं पराश्रित हैं।

७—मैं चेतन अपूर्ण ज्ञानादिक दशाओंसे भिन्नस्वरूप हूँ क्योंकि मैं पूर्णस्वभाव एक स्वरूप त्रैकालिक हूं, ये अपूर्णज्ञानादिक अपूर्ण अनेकावस्थ एवं अनित्य हैं।

८—मैं चेतन पूर्ण शुद्धपर्याय (केवलज्ञान आदि) से विलक्षण हूं क्योंकि मैं त्रैकालिक हूँ और सर्व परिणतियों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का मूल हूं किन्तु केवलज्ञानादिक क्षणिक [सदृशपर्यायसे सदा रहनेवाले] और परिणामरूप हैं।

९—मैं सर्व अनेकोंका निषेध करके प्रसिद्ध होनेवाले एकसे न्यारा हूं क्योंकि मैं स्वयं अद्वैत प्रतिभासमय एक स्वभावी हूं।

चौदह

धर्मी के आदरणीय

जिसने सर्व परभावोंसे पृथक् निज अनन्त शक्तियोंके अभेदस्वरूप चैतन्यमय अनाकुल निजपदार्थका निर्विकल्प रूपसे अनुभव किया है। उसके अनुभव के पश्चात् यदि अनुरागभाव आये तो निर्विकल्प शुद्ध आत्माओंमें तथा निर्विकल्प शुद्ध होनेके प्रयत्नमें जगे हुये अन्तरात्माओंमें अनुराग होता है। ये आदरणीय अवस्थायें ५ होती हैं:—

[१] जो निज शुद्ध आत्माकी तीव्र रुचि के कारण गृहपरिवार, धन, वस्त्र आदि सर्व परिग्रहों का संन्यास [त्याग] कर चुके हैं, मात्र समाधिकी इच्छासे आवश्यक जीवन रखनेके अर्थ भिक्षावृत्तिसे भक्तिमान् गृहस्थके गृह दिन में एकबार जब आवश्यक समझते हैं आहार लेते हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

और निरन्तर आत्मसाधनोंमें निरत रहते हैं ऐसे संन्यासी का पद ।

[२] संन्यासियोंके समूहके नायक सूर संन्यासी जो संन्यासियोंको समाधानरूप रख सकते हैं ।

[३] पाठक संन्यासी जो विशिष्ट ज्ञानी साधूसमूहको उच्च अध्ययन कराते हैं ।

[४] उक्त संन्यासी जब निर्विकल्प शुद्धात्माके अनुभव में अधिक स्थिर होजाते हैं तब वे सर्वज्ञ वीतराग हो जाते हैं इन्हें सशरीर शुद्धात्मा या साकार परमात्मा अथवा सगुण ब्रह्म कहते हैं ।

[५] साकार परमात्मा जब आयु समाप्तिके क्षणमें शरीररहित होजाते हैं तब लोकाग्रमें अवस्थित होकर सदा को सर्वथा शुद्ध रहते हैं इन्हें शरीर शुद्धात्मा या निराकार परमात्मा अथवा निर्गुणब्रह्म कहते हैं । इसप्रकार धर्मात्मा के आदरणीय ये पंच विशिष्ट आत्मा हैं । साधारणतया भेदविज्ञानी भी उसके आदरणीय हैं । इनके आदरके भावसे निज उपयोगमें बल बढ़ता है । अतः अनुराग की वृत्ति उठे तो इन पंच परमेष्ठी [परमपदमें स्थित] की शरण लेना उत्तम है ।

---

http://sahjanandvarnishastra.org/

: पन्द्रह :

धर्मी के चिन्तन कण

—:०:—

१—मैं अनादि अनन्त चैतन्यस्वाभावी अमूर्त आत्मा द्रव्य हूँ।

२—हे प्रभो ! हे शुद्धात्मन् ! जैसा तू शक्तिमान्, स्वभाव वाला द्रव्य है वैसा ही मैं शक्तिमान् स्वभाववाला हूं।

३—मैं सर्व पदार्थोंसे जुदा हूँ, न मैं दूसरों का हूँ न मेरे दूसरे हैं मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ।

४—क्रोध, मान आदि सब दशायें नैमित्तिक भाव हैं, विनाशीय हैं उन स्वरूप मैं नहीं हूँ।

५—अहो ये विकल्प जाल उठ रहे हैं, उठ भागो तुमसे मेरा नाता नहीं, मैं ज्ञानमात्र हूँ।

६—मैं अहेतुक अनादि अनन्त ध्रुव हूं सदा सुरक्षित हूँ।

७—मैं सर्व पर्यायमें जानेवाला, किसी भी पर्यायरूप न रहनेवाला त्रैकालिक एक हूँ।

८—मुझे किसीका प्रेम-सन्मान आदि कुछ नहीं चाहिये क्योंकि मैं स्वयंको ही भोग पाता हूँ किसीके प्रेम सन्मानभाव आदिको नहीं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

९–मेरा स्वरूपज्ञान है अच्छा बुरा या शुद्ध जानूं इसके सिवाय मैं और कुछ कर भी नहीं सकता। मैं किसी अन्यको नहीं कर रहा अतः अब विकल्प भी दूर होओ।

१०–मैं अकेला ही तो खुदका जुम्मेवार हूँ, जिनसे क्षणिक सम्बन्ध है वे कोई जुम्मेवार रंच भी नहीं होसकते। अपने ही आपको निरख, यही जुम्मेवारी की संभाल है।

११–परका तो तू कुछ है ही नहीं, न था, न होगा अब परविषयक राग छोड़दे फिर भलाई ही भलाई है।

१२–मैं ध्रुव चैतन्यमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, एकस्वरूप हूं।

१३–अहो यह मनुष्यभव अति दुर्लभ है यहींसे सर्व दुःखों से छूटनेका उपाय है यदि पररति की तो बड़ा उत्पात होगा, असंगी निगोद हुये तब बिल्कुल बरबाद, सावधान रह स्वदृष्टि कर।

१४–रागका सुख स्वभावविरुद्ध, पागलपन, क्षणिक सुख जिसका फल अनन्त दुःख है। परकी दृष्टि छोड़। परआश्रय उपयोगमें न रहने से राग स्वयं मर मिटता है।

१५–अहो क्षणिक भूलका अपार दुःख ! भूल छोड़ स्वयं को स्वयंमें जोड़।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

१६–अरे व्यर्थ समय बीत रहा है। जब रागवृत्ति है, कर्मबंध चल रहा है तब व्यर्थ ही तो है–क्योंकि वहां आत्मलाभ नहीं प्रत्युत गुणहानि है।

१७–अहो असंख्यात कोशों प्रमाण (२४३) घनराजू प्रमाण इस लोकमें मैं चैतन अकेला हूँ। अन्य कोई शरण नहीं। निजस्वभावको ही देखो फिर अशांति, दुर्गतिकी संभावना नहीं।

१८–तुम तो सुखी ही हो। जब सर्वद्रव्य मुझसे जुदे हैं उनमें कुछ करना बनता ही नहीं, मेरा कुछ अन्य है ही नहीं तब चिन्ता ही क्या ? स्वयं सुरक्षित हूँ सुखी हूँ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com